International Journal of Hindi Research
ISSN: 2455-2232, Impact Factor: RJIF 5.22
www.hindijournal.com
Volume 2; Issue 4; July 2016; Page No. 36-37

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के निबंधों में जीवन–दर्शन

डॉ. आलम शेख
पूर्व शोधार्थी हिन्दी विभाग इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (छ.ग.)

सारांश
म्नुष्य प्रकृति की सबसे उत्तम कृति है। प्रकृति को जीतने और सब कुछ हासिल करने की लालसा ने मनुष्य में धीरे–धीरे मनुष्यत्व खत्म हो रहा है और उस पर पाश्विक प्रवृत्ति फिर से हावी हो रही है। आचार्य हजारप्रसाद द्विवेदी अपने निबंधों के द्वारा इस सत्य को उद्घाटित करते हुए उत्तम जीवन के गूढ़ रहस्यों से हमारा परिचय कराते हैं। वे मनुष्य के संदेहास्पद प्रवृत्ति को उजागर करते हुए 'शीरीष के फूल' शीर्षक निबंध के माध्यम से उसके एक और दुर्गुण स्वार्थपरता की ओर भी हमारा ध्यान खीचते हुए जिजीविशा को मनुष्य की सबसे बड़ी शक्ति मानते हैं। 'कुटज' शीर्षक निबंध के माध्यम से द्विवेदी जी जीवन संघर्षों का सामना करते हुए, मन को नियन्त्रित कर दुःखी जीवन को सुख में परिणत करने की राह प्रदर्शित करते हैं। द्विवेदी जी का मानना है कि जीवन लक्ष्यपूर्ण होना चाहिए इसलिए वे 'जीवम शरदः शतम' शीर्षक निबंध में लक्ष्यपूर्ण कर्मप्रधान जीवन को ही सार्थक मानते हैं। द्विवेदीजी अपने निबंधों के माध्यम से ऐसा जीवन–दर्शन हमारे समक्ष प्रस्तुत करते हैं जो जीवन को लक्ष्यपूर्ण और कर्म प्रधान बनाने एवं स्वार्थपरता और परतन्त्रता को दूर कर अदृश्य शक्ति पर आस्था रखते हुए जीवन के संघर्शों से लड़कर सामुहिक रूप से उत्तम जीवन जीने की कला सीखाती है।

मूलशब्दः जीवन–दर्शन, मानवतावाद, मनुष्य की जिजीविषा

प्रस्तावना

वर्तमान समय में मनुष्य बहुआयामी उन्नति कर रहा है। वह आज प्रकृति पर विजय प्राप्त करते हुए चन्द्रमा तक जा पहुँचा है। वह धरती और आसमान के गूढ़ रहस्यों को सुलझा रहा है और वर्तमान में विकास की चरम सीमा पर है। एक सत्य यह भी है कि इस विकासक्रम में मनुष्य जाने–अनजाने अपने मानवीय मूल्य खो रहा है। मानवीय मूल्यों ने ही मनुष्य को पशु से अलग पहचान दी है, पर विकास की अन्धाधुन्ध दौड़ में मनुष्य फिर से पशु बन रहे हैं। यह स्थिति अच्छी नहीं है। बुद्धिजीवी तथा अन्य सजग जन इस स्थिति को लेकर चिन्तित हैं। परन्तु द्विवेदी जी को यह विश्वास है कि मनुष्य के पास वह सामर्थ्य है कि इस विषम परिस्थिति से सहजता से उबर सके। इसी कारण वे कहते हैं ''मनुष्य सब–कुछ कर सकता है, वह प्रकृति के दुर्ग पर अपनी विजय–पताका फहरा सकता है, वह सृष्टि–परम्परा की सबसे उत्तम परिणति है।''[1]

मनुष्य सृष्टि की सबसे उत्तम कृति है। उसके पास जो बुद्धि–विवेक की शक्ति है, उसके द्वारा उसने हर चीज को अपनी तर्क की कसौटी पर तौलना आरम्भ किया। इसी प्रवृत्ति ने उसे सन्देहवादी बना दिया। वह लौकिक और अलौकिक चीजों पर संदेह करने लगा, लेकिन स्वयं पर आस्था बनाये रखी। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में – ''इस युग में मनुश्य ने धर्म पर सन्देह किया, ईश्वर पर सन्देह किया, परम्परा–समर्थित नैतिक दृष्टि–भंगी पर सन्देह किया, परिपाटी–विहित रसज्ञता पर सन्देह किया, परन्तु फिर भी यह युग अपूर्व विश्वास का युग है; क्योंकि मनुष्य ने अपने ऊपर अविश्वास नहीं किया।''[2] निश्चय ही द्विवेदी जी को मनुष्य और उसकी शक्ति पर अगाध विश्वास था। वह यह मानते थे कि मनुष्य कभी पशु नहीं बन सकता, जब तक उसके अन्दर विवेक विद्यमान है। यद्यपि वर्तमान में मनुष्य अपने तथाकथित विकास और सृजन की होड़ में मानवतावादी पथ से दूर हो रहा है, पर पाश्विक प्रवृत्ति को दूर कर उसे सही रास्ते पर लाया जा सकता है। द्विवेदी जी मनुश्य की ऐसी पाश्विक प्रवृत्ति को समाने लाकर उसके निदान हेतु अपने निबंधों में दिशा निर्देश देते हैं। मनुष्य में एक प्रवृत्ति आम होती है, वह है स्वार्थपरता। आजकल लोग बस स्वार्थ के लिए जी रहे हैं। वे मानवता से बहुत दूर हो गये हैं। स्वार्थपरता मानवीय मूल्य के पतन का सबसे बड़ा कारण है। इस संसार में फैले स्वार्थ को द्विवेदी जी अषोक के फूल के माध्यम से इस प्रकार व्यक्त करते हैं ''दुनिया बड़ी भुल्लकड़ है ! केवल उतना ही याद रखती है, जितने से उसका स्वार्थ सधता है। बाकी को फेंककर आगे बढ़ जाती है। शायद अशोक से उसका स्वार्थ नहीं सधा। क्यों उसे वह याद रखती ? सारा संसार स्वार्थ का अखाड़ा ही तो है !''[3]

मनुष्य अपने मतलब के कारण ही किसी वस्तु को महत्व देता है और मतलब पूरा हो जाने पर वही वस्तु उसके काम की नहीं रहती। द्विवेदी जी शिरीश के फूल के माध्यम से यही व्यक्त करते हैं। शिरीश का फूल जिसकी सुन्दरता का वर्णन महाकवि कालिदास ने बहुत किया, पर आज यह फूल कोई महत्व ही नहीं रखता है। इसी कारण वे कहते हैं – ''लेकिन दुनिया है कि मतलब से मतलब है, रस चूस लेती है, छिलका और गुठली फेंक देती है।''[4]

सम्भवतः इस स्वार्थी प्रकृति के कारण ही आज मनुष्य आजाद नहीं है। आज मनुष्य समाज के बनाये गये नियमों और शड़यंत्रों में जकड़े हुए हैं। अतः पहले मनुष्य को स्वच्छन्द होकर साँस लेने के लिए ऐसे शोषणों से स्वतन्त्र होना होगा। आचार्य द्विवेदी के शब्दों में – ''सामाजिक मानवतावाद ही उत्तम समाधान है। मनुष्य को, व्यक्ति–मनुश्य को नहीं, बल्कि समष्टि–मनुष्य को, आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक शोषण ये मुक्त करना होगा।''[5]

मनुष्य की जिजीविषा ही उसकी सबसे बड़ी शक्ति है। द्विवेदी जी को इस जिजीविशा पर अगाध विश्वास मानवतावादी है। वे कहते हैं – ''सब कुछ में मिलावट है, सब कुछ अविशुद्ध है। शुद्ध है केवल मनुष्य की दुर्दम जिजीविषा (जीने की इच्छा)।''[6]

जहाँ पर अधिकार–लालसा की बात आती है, वहाँ द्विवेदी जी जरा और मृत्यु की सत्यता को व्यक्त करते हुए मानो व्यक्त करते हैं कि मृत्यु तो निश्चित और शाश्वत सत्य है। मनुष्य इस मृत्युलोक में जिस–जिस पर अपना अधिकार जमाये बैठा है, वह सब इसी लोक में रह जायेगा। उसके साथ कुछ जाने वाला नहीं है। वे कहते हैं – ''अधिकार–लिप्सा क्यों नहीं समय रहते सावधान हो जाती ? जरा और मृत्यु, ये दोनों ही जगत् के अतिपरिचित और अति–प्रामाणिक सत्य हैं।''[7]

जहाँ तक जीवन जीने की बात है, मनुष्य को हार नहीं मानना चाहिए। चाहे जीवन में कितने भी झँझावात आयें ? चाहे जीवन कितना भी संघर्शमय हो ? सारी परशानियों से लड़ते हुए जीवन को

अवश्य जीना चाहिये। 'कुटज' के माध्यम से द्विवेदी जी अपने जीवन दर्शन को इस प्रकार व्यक्त करते हैं – ''जीना चाहते हो ? कठोर पाषाण को भेदकर, पाताल की छाती चीरकर अपना भोग्य संग्रह करो; वायु मण्डल को चूसकर, झंझा–तूफान को रगड़कर, अपना प्राप्य वसूल लो; आकाश को चूमकर, अवकाश की लहरी में झूमकर, उल्लास खींच लो। कुटज का यही उपदेश है।''[8] उनका मानना है कि ईश्वर ने जीवन जीने के लिए ही दिया है, अतः जीवन के हर एक क्षण को उल्लास और खुशी से जीना चाहिए। इसी संदर्भ में वे कहते हैं – ''दुरन्त जीवन–शक्ति है ! कठिन उपदेश है। जीना भी एक कला है। लेकिन कला ही नहीं, तपस्या है। जियो तो प्राण ढाल दो जिन्दगी में, मन ढाल दो जीवन–रस के उपकरणों में !''[9]

दुःख और सुख जीवन के दो महत्वपूर्ण पहलू है। दुःख और सुख का कारण मानव मन ही है। अगर मन को नियन्त्रित रखा जाये, तो किसी प्रकार का दुःख नहीं होगा और जीवन में खुशियाँ ही खुशियाँ होगी। द्विवेदी जी इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं – ''दुःख और सुख तो मन के विकल्प हैं। सुखी वह है जिसका मन वश में है, दुखी वह है जिसका मन परवश है।''[10] इस जीवन दर्शन के उस गूढ़ रहस्य से द्विवेदी जी हमारा परिचय करा देते हैं, जिससे मानव जीवन सुखमय बन सके।

प्रत्येक मनुष्य के जीवन का लक्ष्य कोई न कोई अवश्य ही होना चाहिए। लक्ष्यहीन जीवन स्वयं मानव के लिए एवं समाज के लिए भी हानिकारक है। द्विवेदी जी अपने निबंध 'जीवेम शरदः शतम्' में कहते भी हैं – ''लक्ष्यभ्रष्ट जीवन केवल दयनीय ही नहीं होता, वह समाज के लिए हानिकर भी होता है।''[11] लक्ष्यपूर्ण जीवन कर्म पर आधारित होता है, कर्म के आधार पर ही मानव उच्चत्तम लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है। इसीलिए द्विवेदी जी कर्म की प्रधानता को महत्व देते हुए कहते हैं – ''कर्म तो ऐसा ही होना चाहिए, जो मनुष्य जीवन के उच्चतर लक्ष्य के अनुकूल हो। साथ ही उसमें दैन्य का भाव नहीं आना चाहिए।''[12] जो लोग कुछ करने का संकल्प तो ले लेते हैं, पर पूरा नहीं कर पाते या जो लोग केवल प्रार्थना पर ही विश्वास रखते हैं, ऐसे लोगों को द्विवेदी जी कहते हैं – ''केवल प्रार्थना या संकल्प के महान् होने से काम नहीं बनता, उस संकल्प के पीछे दृढ़ कर्मशक्ति चाहिए। यदि हम केवल बड़ी इच्छाएँ ही मन में पोसते रहें तो उससे कुछ बड़ी सिद्धि नहीं मिल पायेगी।''[13]

कहा जा सकता है कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का जीवन दर्शन कर्मप्रधान है। वे जीवन को सुगठित बनाने के लिए महत्वूपर्ण लक्ष्य की प्राप्ति के लिए एवं जीवन जीने के लिए आवश्यक मूलभूत चीजों की समुचित व्यवस्था करने को प्रेरित करते हैं, क्योंकि इन्हीं चीजों को प्राप्त करने के चक्कर में मनुष्य बड़े लक्ष्य प्राप्त करने से चूक जाते हैं। इन्हीं बातों पर हमारा ध्यान खीचते हुए द्विवेदी जी कहते हैं – ''हमें कोई ऐसी व्यवस्था सोचनी पड़ेगी कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जरूरत–भर अन्न, वस्त्र और शिक्षा मिल जाए और उससे जितने की जरूरत है उससे अधिक संग्रह करने का अवसर ही नहीं मिले। जब सामूहिक रूप से ऐसी कोई व्यवस्था हो जायेगी, तभी ये छोटी–छोटी चीजें बड़ी–बड़ी बातों से मनुश्य का ध्यान हटाकर अपनी ओर खींच नहीं सकेंगी।''[14]

आज मानव एकाकी होता जा रहा है, स्वार्थी होता जा रहा है, केवल अपने लिए जी रहा है एवं सद्भाव से दूर हो रहा है। ऐसी चीजों को दूर करने के लिए द्विवेदी जी सामूहिकता पर बल देते हुए कहते हैं – ''हमें उन बातों को समाज में ठहरने ही नहीं देना चाहिए, जो औसत व्यक्ति की चरित्र–शक्ति को हीन और दुर्बल बनाती हैं। अब हमारी साधना केवल व्यक्तिगत उपदेश तक सीमित नहीं रहनी चाहिए, हमें सामूहिक रूप से ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि मनुष्य को लोभ–मोह की ओर खींचनेवाली शक्तियाँ क्षीणबल हो जायें।''[15] इस सबके लिए सर्वोत्तम उपाय के रूप में वे अन्तर्मन को परिष्कृत करने की सलाह देते हुए कहते हैं – ''बाहर नहीं, भीतर की ओर देखो। हिंसा को मन से दूर करो, मिथ्या को हटाओ, क्रोध और द्वेश को दूर करो, लोक के लिए कष्ट सहो, आराम की बात मत सोचो, काम करने की बात सोचो।''[16]

हजारीप्रसाद द्विवेदी जी की इस संसार की रचयिता अदृश्य सत्ता पर भी आस्था है। जब–जब मानव ने प्रकृति पर अपनी विजय–प्राप्ति का अभियान किया, तब–तब प्रकृति ने विकराल रूप धारण कर मनुष्यों को उनकी औकात दिखाई। इसीलिए द्विवेदी जी मानव को घमण्ड से दूर रहने की सलाह देते हैं। वे कहते हैं – ''जो समझता है कि दूसरों का उपकार कर रहा है, वह अबोध है, जो समझता है कि दूसरे उसका उपकार कर रहे हैं, वह भी बुद्धिहीन है। कौन किसका उपकार करता है, कौन किसका अपकार कर रहा है ? मनुष्य जी रहा है, केवल जी रहा है; अपनी इच्छा से नहीं, इतिहास–विधाता की योजना के अनुसार। किसी को उससे सुख मिल जाय, बहुत अच्छी बात है ; नहीं मिल सका, कोई बात नहीं; परन्तु उसे अभिमान नहीं होना चाहिए।''[17]

निष्कर्षतः आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का जीवन दर्शन अदृश्य सत्ता के साथ–साथ मानव शक्ति पर केन्द्रित है। मनुश्य पर उनकी सर्वाधिक आस्था है। इसके साथ–साथ मनुष्य को स्वार्थ और अधिकार लिप्सा से दूर रहकर, जीवन के संघर्षों को झेलते हुए, मन को नियंत्रित करते हुए, कर्म करते हुए लक्ष्यपूर्ण जीवन को सामूहिक रूप से उल्लासपूर्वक जिये, यही उनके जीवन दर्शन का सार है।

संदर्भः

1. द्विवेदी मुकुन्द डॉ., हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली–10, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1981, पृ. सं. 80
2. वही पृ. 80
3. द्विवेदी मुकुन्द डॉ., हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली–9, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1981, पृ. सं. 23
4. वही पृ. 23
5. द्विवेदी मुकुन्द डॉ., हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली–10, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1981, पृ. सं. 81
6. द्विवेदी मुकुन्द डॉ., हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली–9, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1981, पृ. सं. 23
7. वही पृ. 26
8. वही पृ. 32
9. वही पृ. 33
10. वही पृ. 34
11. वही पृ. 60
12. वही पृ. 61
13. वही पृ. 62
14. वही पृ. 64
15. वही पृ. 64
16. वही पृ. 109
17. वही पृ. 34